औपनिवेशिक काल में उत्तराखण्ड की कृषि तकनीक व कृषि उत्पादन

डॉ० रूचि त्यागी
एसोसिएट प्रोफेसर (अर्थशास्त्र)
ए० के० पी० जी० कॉलेज, हापुड़

सारांशिका

उत्तराखण्ड की ढालदार स्थालाकृति में पर्वतीय ढालों को काटकर उन्हें सीढीनुमा खेतों में परिवर्तित कर ही कृशि सम्भव हैं। यह प्रक्रिया अत्याधिक श्रमसाध्य तथा कृशि के बडें यंत्रों के प्रयोग में प्रमुख बाधक हैं। पर्वतीय क्षेत्र में सिचाई के साधन नदियाँ व गधेरी ही है। लेकिन प्रायः गधेरे और नदियाँ गहरी घाटियाँ में प्रवाहित है, पर खेत उससे अधिक ऊँचाई पर स्थित है। ऐसी स्थिति में नदियों व गधेरों से जल को यांत्रिक पद्धतियों से ऊपर उठाकर ही सिंचाई सम्भव हैं।

मध्यकाल एवं औपनिवेशिक शासन में जो कुछ भी सिंचाई का विस्तार हुआ। वह कृशकों के व्यक्तिगत प्रयासो व सामुदायिक सहयोग से ही हुआ भाबर को छोडकर सिंचाई सुविधा के विस्तार के लिए शासकीय प्रयत्न नाम मात्र के ही थे। पर्वतीय क्षेत्र में विगत में तथा आज भी जहाँ कही भी कृशि भूमि जल स्त्रोत के समान्तर होती हैं। पर्वतीय कृशक छोटी–छोटी नहरे, जिन्हे मिट्टी व पत्थर की चिनाई के द्वारा बनाया जाता हैं, निकाल लेते है। इन नहरो को गूल कहते है।

कमोवेश 1880 तक गढवाल में अन्न का उत्पादन, कृशि भूमि के विस्तार होते रहने के कारण स्थानीय आवश्यकता से अधिक ही रहा। लेकिन कृशि भूमि के विस्तार की सम्भावनाओं के समाप्त हो जाने पर अकाल की पुनरावृति एक सामान्य बात थीं। प्रथम सड़कों का विस्तार कर मैदानी भागों और गढ़वाल के अन्न अधिक्य वाले क्षेत्रों से कमी वाले क्षेत्रों में अनाज भेजना तथा दूसरा गढ़वाल में कृशि उत्पादकता बढ़ाने के लिये सिचाई की सुविधाओं का विस्तार करना।

मुख्य शब्द : सूरदास काव्य कृष्ण–चरित्र, कौतूहल प्रसंग

प्रस्तावना

1883 में कर्नल फिसर ने एक सरकारी रिपोर्ट में सिंचाई की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए कहा कि "सिंचाई के बारे में जागरूकता वर्श 1877–78 के अकाल से आयी है, इसके बाद उन सब जगहों पर धीरे – धीरे सिंचाई की सुविधा जुटाई जाने लगी, जहाँ यह सम्भव और लाभकारी था। ऊँचाई वाले क्षेत्रों के लोगों का मानना है कि ठंडें और सीले (ऐसे स्थान जहाँ धूप नहीं पहुचती) गधेरों का पानी फसल के लिए फायदेमंद नहीं होता। यह पानी खेतों को बहुत ज्यादा ठंडा कर देता है और फायदे से ज्यादा नुकसान करता है। बहुत ज्यादा सूखे की अवस्था मे गधेरों में भी पानी सूख जाता है, जिससे गूलों में पानी नहीं आता। इसलिए सिंचाई परियोजनाओ से उस तरह का फायदा नहीं हो सकता जिस तरह के फायदे की यहाँ का सतही जानकार अपेक्षा कर सकता है। पिछले बन्दोबस्त में किये गये वर्गीकरण, "गीली", "अव्वल दर्जे की सूखी" और "दोयम दर्जे की सूखी" के प्रति शंकालु पहाडी व्यक्ति ने अपनी जमीन को सिंचित बताने में हिचक महसूस की। लेकिन अगले बन्दोबस्त में, बन्दोबस्त अधिकारी, सेरा (सिंचित जमीन) भी अपने दस्तावेज मे दर्ज करने लगे थे। वर्श 1893 में वर्तमान बन्दोबस्त की अवधि समाप्त हो रही थी और सरकार को उम्मीद थी कि नये बन्दोबस्त में सिंचित भूमि काफी बढ़ जायेगी। गढ़वाल में बारिश कमोबध हर साल होती है तथा "सिंचित" और "असिंचित" दोनो क्षेत्रों में, फसल लगभग एक सी इस मायने में होती है कि अगर एक जगह कभी आयी तो दूसरी जगह की भरपूर फसल से भरपाई हो जाती है।"1 स्पश्ट है कि सरकार भी मानती थी कि सिंचित भूमि पर लगान की ऊँची दरों ने सिंचाई के विस्तार में बाधा पहुँचाई थी। गढ़वाल भबर को बसाने की प्रक्रिया में जैसा कि पूर्व वर्णित है सरकार ने प्राथमिकता नहरों के विस्तार को दी थी। तथापि ब्रिटिश काल में कर्नल गार्सीन ने तत्कालिक आवश्यकताओं के दबाव में भाबर को बसाने के लिये कच्ची नहरों के निर्माण को प्रोत्साहन दिया। ये सब नहरें मिट्टी की गूले थी और इनमें से जल रिसजाता था। भाबर में सर्वप्रथम पक्की नहर 1887–88 में खोइ नदी के पूर्वी तट से निकाली गयी थी। इसका जल पुराने कोटद्वार और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों तक पहुँचाया गया था। इस नहर की तलहटी में पत्थर बिछाये गये थे और किनारों पर चूने की चिनाई की गयी थीं 1886 से 94 तक मालन नदी के दाहिने व बायें किनारो से भी नहरें निकाली गयी। इन नहरों के निर्माण व्यय का आंशिक भार बिजनौर के जमीदारों ने भी वहन किया था। सरकार से एक समझौते के अन्तर्गत इन नहरो का एक तिहाई जल बिजनौर के किसानों को प्राप्त होता था। सुखरो नहर का निर्माण 1888 व 89 में, सिगडी नहर का निर्माण 1907–08 में तथा ग्वाई से 1902–03 में नहर निकाली गयी। इन नहरों के विस्तार के परिणामस्वरूप वर्श 1902–03 में तराई भाबर की मात्र 70 एकड भूमि असिंचित थी, शेश भूमि को कुछ न कुछ सिंचाई की सुविधा उपलब्ध थी।3

खाद उपयोग व वन विनाश–

जहाँ तक कृशि उपकरणों और खाद का सवाल है औपनिवेशिक काल में इन दोनों चीजो में कोई विशेश परिवर्तन नहीं आया। सामान्यतः कृशक खेतों में गोबर और पत्तियों की खाद पहुँचाते थे। पर्वतीय क्षेत्रों में ईंधन के लिये वनों से लकड़ी प्राप्त हो जाती थी, लेकिन यह स्थिति सम्पूर्ण गढ़वाल की नहीं थी। 1894 में पौ के सेटलमैंट तक जंगलों को काटकर कृशि भूमि का जितना विस्तार सम्भव था, वह विस्तार हो चुका था। अतः जिन परगनों में वनो का अधिक विनाश हुआ था, उनमें ईंधन का संकट भी गम्भीर हो गया था। परगना बारहस्यूँ, चौंदकोट और देवलगढ़ में वन विनाश से कृशि भूमि का सर्वाधिक विस्तार हुआ था। इसलिए इन परगनों में जलावन के लिये गोबर का प्रचुरता से इस्तेमाल होने लगा था। खेतों को खाद पहुँचाने का दूसरा तरीका खेतों में खर्क व गोढ लगाने का था। ऐसे क्षेत्रों में जिनमें वन बहुत सीमित रह गये थे और चारागाह का भी संकट था परगना बारहस्यूँ की यही स्थिति थी। इन इलाको से पशुओं को एकत्र कर डांगू उदयपुर आदि के निवासी ले जाती थी। अपने क्षेत्र में इन पशुओं को ये नयी आबाद भूमि में बांधते थे। जिससे खेतों को खाद प्राप्त हो जाती थी। ऐसे व्यक्ति गोढिया कहलाते थे। ये गोढिया निश्चित समय पर जिन परिवारों से पशुओं को ले जाते थे उन्हे वापिस कर देते थे। उनसे कोई चराई नहीं ली जाती थी और पशुओ को न लौटाने की घटना प्रायः नगण्य थी। लेकिन जैसा कि पूर्व वर्णित है गोठ और खर्क पर शासकीय नियन्त्रण से ब्रिटिश शासन के अन्त तक यह प्रथा भी लगभग समाप्त सी हो गयी थी। खेतों के खाद पहुँचाने का तीसरा तरीका वनों से पत्तियाँ एकत्र कर गौशालाओं में बिछा देना था। दो या तीन दिन के उपरान्त इन पत्तियों को एकत्र कर लिया जाता था और उसे गोबर के साथ मिलाकर खेतों में डाल दिया जाता था।

कृशि यन्त्रों और शक्ति के साधनो के सम्बन्ध में भी ब्रिटिश शासन काल में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं आया। कृशि उपकरण स्थानीय शिल्पकार जो तथाकथित अछूत जातियों के लौहार होते थे, स्थानीय वनो की लकड़ी से बनाते थे। प्रत्येक शिल्पकार परिवार के कृशक परिवारों से वंशानुगत सम्बन्ध होते थे। इन कृशक परिवारों को वो अपना गैख (ग्राहक) कहते थे। इन शिल्पकारों को उनकी सेवा के परितोशिक प्रत्येक फसल पर अनाज दिया जाता था, तथा विवाह – शादियों के अवसर पर भी कपड़ा नकद राशि आदि दी जाती थी। यह जजमानी प्रथा औपनिवेशिक काल से पूर्व से ही चली आ रही थी व ब्रिटिश काल में इसमें कोई विशेश अन्तर नहीं आया।

ब्रिटिश शासको का विचार था कि पर्वतीय क्षेत्रों की कृशि तकनीकी काफी दक्षतापूर्ण व श्रमसाध्य है। कृशि के प्रमुख उपकरणों में प्रमुख बैलों के द्वारा खीचे जाने वाला सामान्य हल था। गुडाई, निरायी तथा कटाई के भी स्थानीय स्तर पर निर्मित सामान्य यंत्र जैसे कुटला (छोटा सा कुदाल), दराती आदि थे।

औपनिवेशिक शासन की समाप्ति के लगभग 6 दशक बीत जाने पर भी, उत्तराखण्ड़ के पर्वतीय क्षेत्रों के कृशि तकनीकी, कृशि उत्पादन व खाद सुरक्षा सुधार नहीं हुआ है। संक्षेप में कह सकते है कि कृशि तकनीकी लगभग स्थैतिक स्थिति में हैं।

ब्रिटिश शासकों की कृशि नीति के कृशि पद्धति व तकनीक पर दीर्घकालिक प्रभाव पड़े। प्रारम्भ में 1815 से 1864 तक गढ़वाल में वनों को काटकर कृशि भूमि के विस्तार को प्रोत्साहित करना सामान्य नीति थी। दूसरे शब्दों में औपनिवेशिक काल में, विस्तृत खेती की नीति का अनुसरण करते रहे, इसके लिये उन्होने आधारभूत संरचना जैसे सिंचाई, कृशि उपकरण, बाजार सुविधा व भंड़ारण के विस्तार के लिये कोई विशेश उपाय नहीं किये तथापि इस दौरान पशुपालन एक प्रमुख व्यवसाय बना रहा, जिससे कृशि में पर्याप्त खाद पहुँचती थी, फलस्वरूप उत्पादकता में भी कोई ह्रास नहीं हुआ था। यद्यपि उत्पादन घरेलू आवश्यकताओं के लिये होता था फिर भी कृशि उपज का कुछ भाग जैसे कि पौने अपने भू–प्रबन्धन रिपोर्ट में लिखा है, अच्छी वर्शा के वर्शों में बाजार में भी बेचते थे। गंगासलाण के निवासी कृशि उपज को देहरादून के बाजारों में बेचते थे। बारहस्यूँ निवासी भी स्थानीय बाजारों में अन्न बेचा करते थे। लगभग कृशि तकनीकी, कृशि उत्पादन व खाद्य सुरक्षा इसी प्रकार का विवरण इबटसन ने भी दिया है। उन्हीं के शब्दों में "केदारनाथ का मार्ग पट्टी बारहस्यूँ व भैखण्डा से होकर गुजरता है। इस पूरे यात्रा मार्ग पर अन्न का उत्पादन होता है। अनुमानत लगभग 40,000 यात्री प्रति वर्श केदारनाथ की यात्रा करते है और लगभग 10 दिन इस क्षेत्र में बिताते है। इन यात्रियों की खाद्यान आवश्यकताओं के लिये अन्न का आयात नहीं किया जाता। अतः सामान्यतः इन 40,000 यात्रियों के लिये प्रति वर्श दो लाख से तीन लाख सेर अनाज स्थानीय निवासी बेचते है।"2 लेकिन यह स्थिति सारे गढ़वाल में विद्यमान नहीं थी।

1864 के उपरान्त ब्रिटिश शासको को भू–उपयोग नीति में बदलाव आने प्रारम्भ हुए क्योकि उन्हें अनुभव हो गया था कि गढ़वाल में वन असीमित नहीं हैं। फलस्वरूप वनों के कटने व वनों के अन्दर कृशि पर प्रतिबन्ध लगा दिये थे। तथापि गाँवों के अन्दर ऐसी भूमि जो बन्जर थी उस पर कृशि का विस्तार होता रहा। लेकिन शनैः शनैः यह सम्भावनायें भी समाप्त हो गयी। स्थानीय कृशको ने उत्पादन बढाने के लिये पशुओ की संख्या बढ़ाना प्रारम्भ किया ताकि खेतों में पर्याप्त मात्रा में गोबर पहुँच सकें।3

लेकिन यह स्थिति विनाशकारी सिद्ध हुई, क्योंकि पशुओं की अधिक संख्या बढ़ जाने से चारे की समस्या बढ़ती गयी। ए० के० पौ के समय (1894) अनुमान लगाया गया कि प्रति हेक्टेयर 1.12 कुन्तल चावल झंगोरा उत्पन्न होता था।4 जनसंख्या के सापेक्ष कृशि व वानिकी के सम्बन्ध छिन्न–भिन्न होता रहा है। इसी कारण गढ़वाल में कृशि, खाद्य सुरक्षा एवं रोजगार प्रदान करने में उत्तरोत्तर रूप से असफल होती चली गयी। स्थानीय स्तर पर रोजगार के वैकल्पिक साधनो का विकास न होने से, स्थानीय निवासियों के समक्ष आजीविका की खोज में प्रवास पर जाने के अतिरिक्त कोई विकल्प शेश नहीं रह गया था कमोवेश यही स्थिति आज भी विद्यामान हैं।

सन्दर्भ सूची : –

- शिव प्रसाद डबराल (वि० सं० 2035) उत्तराखण्ड का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास भाग–8 गढ़वाल पर ब्रिटिश शासन वि० सं० (1815–1947) वीरगाथा प्रकाशन दुगड्डा पृ० 45.
- 2-E.T. Atkinson (1886) "The Himalayan Districts of North West Provinces Vol III Part II, अनुवादक प्रकाश थपलियाल (1998) हिमालयन गजेटियर ग्रन्थ – 3 भाग 2 उत्तराखण्ड प्रकाशन आदि बदरी चमोली पृ० 247.
- H.G. Walton (1910) British Garwal A Gazetter Being Volume XXX of the District Gazetteer of United Proviance of Agra and Oudh, Government Press, Allahabad पृ० 152-
- 4-E.K. Pauw (1896) The Tenth Settlement Report of District Garhwal Government Press, Allahabad पूर्वोक्त पृ० 23